शिक्षा के लिए सांझे प्रयास : एक प्रस्ताव

❑ रोहित धनकर

प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है। शिक्षा पर विभिन्न प्रकार के दस्तावेज, रिपोर्टस एवं कई प्रकार के कार्यक्रम इसी सत्य की पुष्टि करते हैं । शिक्षा की मुख्यधारा की पहुंच एवं गुणवत्ता के प्रति भी बहुत से लोग आश्वस्त नहीं हैं । अत: विकल्प खोज रहे हैं । विकल्प की यह खोज स्वयंसेवी संस्थाओं में प्रयत्नों के रूप में अभिव्यक्त हो रही है । शिक्षा के क्षेत्र में बहुत सारी स्वयंसेवी संस्थायें शिक्षा को प्रत्येक बच्चे तक पहुंचाने तथा उसकी गुणवत्ता में सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं । ये सुधार के प्रयत्न शिक्षाक्रम, शिक्षण सामग्री, शिक्षक प्रशिक्षण एवं शाला व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में परिलक्षित हो रहे हैं । अर्थात् प्राथमिक शिक्षा के सभी पहलू विकल्प की इस खोज के दायरे में आते हैं । स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले ये प्रयास प्रारंभ तो स्थानीय स्तर पर ही होते हैं, वहीं हो सकते हैं । पर अपने आकार-प्रकार एवं प्रभाव में ये बहुत सीमित - एक, दो विद्यालयों - से लेकर मध्यम दर्जे के कार्यक्रमों तक ही पहुंच रखते हैं । स्पष्ट ही कोई भी संस्था विकल्पों की खोज मात्र इसलिए नहीं करती है कि बस एक आध गांव के बच्चों को उससे लाभ हो सके । विकल्प की खोज ही किसी असंतोष से आरंभ होती है । यदि असंतोष को दूर करने का या कम करने का कोई तरीका मिल जाये तो यह स्वाभाविक है कि उसे इतना व्यापक स्तर पर तो उपयोग में लाने का प्रयत्न होगा ही जितना व्यापक दायरा मूल असंतोष का था। अत: जो लोग विकल्प खोज रहे हैं वे या तो अपने वैकल्पिक तरीकों को ही व्यापक रूप से फैलाने का प्रयत्न करेंगे या फिर इस प्रयत्न में विकसित समझ और तरीकों से मुख्यधारा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेंगे।

साथ ही जो लोग प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं वे इस के सामाजिक स्थिति के लिए निहितार्थों को लेकर असंतुष्ट हैं। अर्थात् शिक्षा में विकल्प गढ़ने का उनका मूल मकसद समाज में अधिक वांछनीय स्थितियां बनाना है । तब शिक्षा के सुधार में प्रयत्नों को सीमित रखना तो अपने आप में ही विरोधाभासी चीज होगी क्योंकि सामाजिक बदलाव तो व्यापक प्रयत्नों से ही संभव है । व्यापक फैलाव से ही संभव है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा में विकल्प की खोज शिक्षा के समस्त परिदृश्य को प्रभावित करने के लिए ही की जाती है, किसी सीमित दायरे में प्रयोग मात्र के लिए नहीं। प्रारंभिक शिक्षा में बेहतरी के लिए काम करने वाली कई संस्थाओं के बारें में यह कहा जा सकता है कि उनके प्रयत्नों के अच्छे परिणाम निकले हैं । शिक्षक प्रशिक्षण, शिक्षण विधियों, शिक्षण सामग्री आदि में सुधार हुआ है । विद्यालय के प्रति आकर्षण, ठहराव एवं शिक्षण स्तर में भी सुधार परिलक्षित हुए हैं । शिक्षक, विद्यालय एवं समुदाय के बीच रिश्तों में सकारात्मक परिवर्तन के रूप भी परिलक्षित हुए हैं । अर्थात् स्पष्टत: स्थानीय स्तर पर संभावनायें दृष्टिगोचर हुई हैं । इन कार्यक्रमों को सफलता मिली है। साथ ही इन सफल कार्यक्रमों के बारे में जानकारी का प्रचार प्रसार भी हुआ है । इन में से कइयों की बात राष्ट्रीय स्तर पर सुनी जाने लगी है तथा इनके उदाहरण भी दिए जाते हैं ।

पर क्या ये कार्यक्रम, इनकी आभासी सफलता एवं इनकी चर्चा व्यापक स्तर पर देश की प्रारंभिक शिक्षा को सकारात्मक दिशा में मोड़ पाये हैं ? क्या इनके प्रयत्नों से शिक्षा में सामाजिक सरोकारों का समावेश हुआ है ? क्या इनके कारण शिक्षा की गुणवत्ता बेहतर हुई है ? क्या शैक्षिक कार्यक्रम को लेकर सरकार अधिक संवेदनशील हुई है ? क्या शिक्षा की नीतियां अधिक सकारात्मक एवं समतावादी हुई हैं? वर्तमान परिदृश्य को देख कर ऐसा तो नहीं लगता । उलटा गुणवत्ता की बात आंकड़ों और फैलाव के जाल में दबी है । नये नये तीव्र फैलाव वाले मॉडल ही गढ़े जा रहे हैं । गुणवत्ता की तरफ तो ध्यान ही नहीं है। सरकारों की मनसा एवं कर्म दोनों ही प्रारंभिक शिक्षा को निजी स्वामित्व की तरफ धकेलने के बनते जा रहे हैं, राज्य की जिम्मेदारी रेखांकित हो रही हो ऐसा भी नहीं लगता । शिक्षाक्रम, पाठ्यपुस्तकें एवं शिक्षण-विधियां गुणात्मक रूप से बेहतर हुई हों ऐसा भी नहीं लगता । शिक्षाक्रम तो अधिकाधिक चिंतन एवं विवेक विरोधी होकर दक्षताओं के जाल में ही फंसे हैं । शिक्षण विधियां भी ''आनन्द दायी'' ''बालकेन्द्रित'' ''गतिविधि आधारित'', ''बहु कक्षा शिक्षण'' आदि अवधारणाओं से विच्छेदित शब्दजाल का ही शिकार हुई हैं । तो ऐसा क्यों है कि स्थानीय स्तर पर संभावनाओं युक्त एवं सफल कार्यक्रमों की अच्छी खासी संख्या होते हुए भी मुख्यधारा का प्रयास बेहतरी की तरफ नहीं मुड़ पा रहा है ?

साथ ही वे कार्यक्रम भी जो आरंभ में सफलता की संभावनाओं से परिपूर्ण होते हैं, और जो एक सीमित स्तर पर सफलता हासिल करते हैं, वे भी समय बीतने के साथ-साथ एक जड़ता के शिकार होने लगते हैं । उनमें भी एक ठहराव सा आने लगता है । ऐसा नहीं लगता कि वे विकास की अपनी संपूर्ण संभावनाओं को प्राप्त कर पाते हैं । न तो भौगोलिक विस्तार में, न शिक्षा-शास्त्रीय अर्थों में ही। अपनी विधा एवं कर्म की संभावनाओ को पूरा खोजे बिना ही वे ठहर से जाते हैं । ऐसा क्यों? उनकी आरंभिक स्फूर्ति में भी ठहराव क्यों आ जाता है ?

जैसा कि पहले कहा गया है हमारे विचार से शिक्षा में बेहतर विकल्प की तलाश सामाजिक बदलाव की इच्छा एवं उसके लिए प्रयत्नों की ही अभिव्यक्ति होती है । पर सामाजिक बदलाव तो कोई व्यक्ति अकेला या एक गांव में काम करके नहीं ला सकता । वह तो पारिभाषिक रूप से ही व्यापक स्तर पर सामूहिक प्रयत्नों की मांग करता है । तो फिर शिक्षा में बेहतर विकल्पों की तलाश करने वालों में भी सामूहिकता, एकीकृत प्रयत्नों की तरफ गति होनी चाहिये । वे स्वाभाविक रूप से एक दूसरे को पुख्ता एवं समृद्ध करने की तरफ बढ़ने चाहियें।

दूसरी बात । शिक्षा के व्यापक परिदृश्य में सरकार एवं बाजार व्यवस्था महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। नीति निर्धारण में एवं कार्य निष्पादन में भी । सरकार शिक्षा के प्रति अपनी नीति एवं शिक्षा की अपनी संकल्पना को विभिन्न दस्तावेजों, शिक्षाक्रम, पुस्तकों एवं कार्यक्रमों के रूप में अभिव्यक्त करती है । यह अभिव्यक्ति एक संस्थाई अभिव्यक्ति होती है । इसके पीछे संस्थाई अनुशासन, बहुत से लोगों की एकीकृत आवाज एवं प्रयत्न तथा संस्थाई सत्ता सभी चीजें होती हैं । साथ ही एक प्रकार का अधिकार एवं वैधानिकता भी होती है । क्योंकि सरकार तो जनतान्त्रिक तरीकों से चुनी गई है तथा यह समाज की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने के लिए अपने आप को अधिकृत मानती है । बाजार भी अपने एक आंतरिक तर्क से संचालित होता है । वहां निजी फायदा, यथास्थिति को बनाये रखना एवं संसाधनों पर वर्चस्व वालों का अधिकार ये तीनों चीजें मिलकर सबसे जोर से सुनाई दी जाने वाली आवाजों में एकजैसापन पैदा कर देती हैं। साथ ही सामान्यत: सरकार एवं बाजार व्यवस्था की मंशा भी एक जैसी सी ही होती है। अत: सरकार जब कोई शिक्षाक्रम प्रस्तावित करती है तो उसका एक व्यापक प्रभाव होता है । उसके पीछे सत्ता, अधिकार एवं धन होता है । पर उस शिक्षाक्रम की

आलोचनात्मक विवेचना तो संस्थायें या लोग अकेले अकेले करते हैं । अत: उनकी बात समाज में किसी व्यापक मत का प्रतिनिधित्व करती भी नहीं लगती । उनमें कोई समन्वयन भी नहीं होता । ऐसी स्थिति में क्या यह कोई आश्चर्य की बात है कि शिक्षा में बेहतर विकल्पों की खोज करने वाले लोग व्यापक स्तर पर पूरी तरह प्रभावहीन रहते हैं ? हमें लगता है कि शिक्षा संबंधी नीतियों एवं कार्यक्रमों को प्रभावित करना हो तो उन सभी लोगों को एक साथ आना होगा जो ये बदलाव चाहते हैं । उन्हें अपना विश्लेषण खूब विचार करके एवं किसी व्यापक प्रतिनिधित्व वाले मंच से प्रस्तुत करना होगा ।

तीसरी बात । हमारे अपने प्रयत्नों के विकास में जो ठहराव सा नजर आता है उसको दूर करने के लिए भी शायद अनुभवों को बांटना, अपने विचारों एवं तरीकों की अन्य लोगों के साथ मिलकर तार्किक विवेचना करना ही अच्छा तरीका साबित होगा । शिक्षा में बेहतर विकल्प खोजने का काम एक सामाजिक कर्म है। वैसे भी उसकी खुली विवेचना एवं समालोचना सार्वजनिक तौर पर होते रहनी चाहिये । पर जब हम एक ही विचार की धुन में रम जाते हैं तब तो दूसरी संभावनाओं की तरफ ध्यान आकर्षित करना और भी आवश्यक हो जाता है ।

कहने का आशय यह है कि सामाजिक बदलाव, शिक्षा में व्यापक सुधार और अपने प्रयत्नों की जीवन्तता बनाये रखने के लिए एक साथ आना ही एक मात्र रास्ता लगता है ।

हमें यह भी लगता है कि अभी तक की विवेचना से शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी समूह शायद सहमत हों, या कुछ मिलती जुलती बात सोचते हों । यदि ऐसा है तो उन्हें स्वाभाविक रूप से एक साथ आना चाहिये था । ऐसे प्रयत्न करने चाहिये थे । कुछ क्षेत्रों में ऐसे प्रयत्न चल भी रहे हैं, जैसे शिक्षा को मूल अधिकार बनाने के लिए तथा शिक्षा को राष्ट्रीय एजेण्डा पर लाने के संदर्भ में । पर शिक्षा की गुणवत्ता, शिक्षण शास्त्र एवं शिक्षा-दर्शन को लेकर ऐसे कोई सामूहिक प्रयत्न नजर नहीं आते। और यही वे क्षेत्र हैं जो गहरे एवं दूरगामी सकारात्मक प्रभाव पैदा कर सकते हैं । इस के लिए क्या किया जा सकता है ?

हमारे विचार से इस दिशा में सामूहिक प्रयत्न तभी हो सकते हैं जब कम से कम दो शर्ते पूरी हों। एक, नीति, शिक्षाक्रम, शिक्षण विधि आदि सभी शैक्षिक मुद्दों पर कोई सुविचारित सामूहिक पक्ष प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है कि वह मत किसी सांझे सैद्धांतिक आधार पर बना हो । अर्थात हर किसी मत के लिए पक्ष लेने की बात नहीं है बल्कि समाज एवं शिक्षा के किसी वांछनीय स्वरूप की तरफ बढ़ने के लिए दिशा तय करने की बात है । कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा एवं शिक्षण-शास्त्र (व्यापक अर्थों में दर्शन से लेकर विधियों तक) के बारे में जिन समूहों में कोई सांझी समझ बन पायेगी वे ही समूहिक आवाज में बोल पायेंगे ।

यह सांझी समझ न्यूनतम आवश्यकता ही हो सकती है । इतनी कि व्यापक मुद्दों पर सामूहिक पक्ष तो रखा जा सके पर साथ ही समूहों की अपनी स्वतंत्रता, सृजनात्मकता एवं विशिष्टतायें भी पूर्ण रूप से स्वीकार्य हों। सांझी समझ का अर्थ है वांछनीय समाज एवं शिक्षा के मूल सैद्धांतिक ढांचे की स्वीकृति। उस मूल सैद्धांतिक ढांचे को स्वीकार करते हुए स्थानीय परिस्थितियों तथा कार्य करने वाले लोगों की विशिष्टताओं के आधार पर विभिन्न शैक्षिक योजनायें बन सकती हैं । इस प्रकार की न्यूनतम सांझी समझ के आधार पर उन संस्थाओं एवं लोगों का एक मंच बन सकता है जो शिक्षा में अधिक उपयुक्त विकल्प की खोज करते रहे हैं तथा जिन की खोज उन्हें लगभग एक-सी दिशा में ले जाती रही है । किसी भी नेटवर्क के काम कर पाने के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उसकी निर्णय लेने की आंतरिक प्रक्रियायें पूरी तरह पारदर्शी हों तथा निर्णय प्रक्रियाओं में सभी सदस्यों की समान स्तर पर भागीदारी हो । ◆